

इकाई 13 (ध्वन्यालोकः) चतुर्थ उद्योत, कारिका 12 से 17

इकाई की रूपरेखा

- 13.0 उद्देश्य
- 13.1 प्रस्तावना
- 13.2 अवस्थादि के प्रभाव से नानात्व को प्राप्त भी वाच्यार्थ में रस आवश्यक, औचित्यपूर्ण रस का सन्निवेश, संवाद का स्वरूप, प्रकार,
 - 13.2.1 अवस्थादि से विभिन्न वाच्यों का निबन्धन लक्ष्य में रसाश्रय से अधिक शोभित
 - 13.2.2 औचित्यानुसारिणी देश-कालादि भेदिनी रसादिसम्बद्ध वस्तुगति
 - 13.2.3 काव्य स्थिति के अक्षयत्व का प्रतिपादन
 - 13.2.4 संवादों की बहुलता
 - 13.2.5 कवियों के पारस्परिक संवाद में भी भिन्नविषयता
 - 13.2.6 संवाद के भेद
 - 13.2.7 सदृश वस्तु के प्रतिपादन में भी काव्य का नवत्व
 - 13.2.8 पूर्वोक्त वस्तु के प्रतिपादन में भी कवि में दोष का अभाव
 - 13.2.9 कवि पर भगवती सरस्वती की कृपा
 - 13.2.10 ग्रन्थ का उपसंहार
- 13.3 सारांश
- 13.4 शब्दावली
- 13.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 13.6 बोध प्रश्न

13.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- अवस्थादि के प्रभाव से नानात्व को प्राप्त भी वाच्यार्थ में रस आवश्यक होता है, इसे समझ पायेंगे।
- औचित्यपूर्ण रस का सन्निवेश आवश्यक होता है, इसे समझ पायेंगे।
- प्राकृतिक वर्ण्य विषय में हमेशा नवीनता की सम्भावना बनी रहती है चाहे हजारों कवि कितनी भी रचना करते रहें इसे, समझ पायेंगे।
- संवाद किसे कहते हैं और वह कितने प्रकार का होता है? यह जान पायेंगे।
- कौन सा संवाद सहृदयजन ग्राह्य होता है? इसे समझ पायेंगे।
- आधुनिक कवियों की वस्तुरचना और अक्षररचना किस प्रकार होनी चाहिए? यह जान जायेंगे।
- पुराने काव्यवस्तु को ग्रहण करते समय कवि को किस बात का ख्याल रखना चाहिए? इसे समझ पायेंगे।
- सर्वथा नवीन रचना की चाह रखने वाले कवि को क्या करना चाहिए? इसे जान पायेंगे।

13.1 प्रस्तावना

पूर्व इकाई में यह प्रतिपादित किया गया है कि ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रयोग से पुराने कवियों के भाव भी नवीन रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। और इसे बहुत सारे उदाहरणों के माध्यम से दिखलाया भी गया। प्रस्तुत इकाई में यह कहा जायेगा कि न केवल व्यङ्ग्यार्थ से ही अपितु वाच्यार्थ के द्वारा भी अवस्था देश और काल आदि के भेद से वर्णित विषय में नवीनता का सञ्चार कविजन अपनी प्रतिभा के बल से कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त यह जोर देकर कहा जायेगा कि संसार की प्रकृति इतनी विस्तृत है कि सामान्य कवि की तो बात छोड़िए हजारों वाचस्पति मिलकर हजार प्रयत्न करें तो भी उसका समग्र वर्णन करने में समर्थ नहीं हो सकते –

वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः।

निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव॥ध्वन्यालोक-४.१०

एक कवि के भाव को दूसरे कवि द्वारा जो ग्रहण किया जाता है वह कितना उचित है। और किस सीमा तक यह कार्य सहृदयजन द्वारा प्रशंसनीय है, इस बात पर विचार किया जायेगा। ध्वनिकार ने इस प्रक्रिया को 'संवाद' कहा है और उसके तीन प्रकार बतलाये हैं—

संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत्।

आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम्॥ध्वन्यालोक-४.१२

१. शरीरियों के प्रतिबिम्ब की भाँति २. आलेख्य के आकार की भाँति और ३. तुल्य शरीरी की भाँति। इन तीनों में तीसरा प्रकार सहृदयजन मान्य है, क्योंकि शरीरी अन्य शरीर के सदृश होते हुए भी एक ही है, यह नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त आधुनिक कवियों को सम्बोधित करते हुए आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि कवि को निश्चिन्त होकर काव्यकर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। यह नहीं सोचना चाहिए कि मेरे में सहृदयसंवेद्य या फिर नवीन रचना करने का सामर्थ्य नहीं है। क्योंकि कवि के अन्दर जो कुछ नवीन स्फुरित होता है वह अनिन्द्य होता है। और रही बात सर्वथा नवीन रचना करने को तो यह कैसे सम्भव है। कुछ न कुछ तो परम्परा से ग्रहण करना ही पड़ता है। नहीं कुछ तो उस भाषा के अक्षर और शब्द तो ग्रहण करना ही पड़ेगा। यदि साक्षात् वृहस्पति भी आ जायें काव्य लिखने के लिए तो वो भी क्या नये वर्णमाला की रचना करके नये-नये शब्दों का प्रयोग करेंगे? या उन्हीं अक्षरों या शब्दों का प्रयोग करेंगे। तो जिस प्रकार अक्षरों और शब्दों के प्रयोग को सहृदयजन दोषयुक्त नहीं मानते उसी प्रकार किसी दूसरे के वस्तु को ग्रहण कर उसमें नवीनता का आधान करने से कवि किसी प्रकार दोषयुक्त नहीं माना जा सकता है—

अक्षरादिरचनेवयोज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी।

नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति॥ध्वन्यालोक-४.१५

इसके अतिरिक्त परस्वादानेच्छाविरत कवि के लिए काव्य कर्म में भगवती सरस्वती का भी बड़ा योगदान है। कवि जब अपने व्युत्पत्ति और अभ्यास के परिपाक से भगवती सरस्वती की कृपा प्राप्त कर लेता है तो वह काव्यकर्म के समय समग्र काव्यार्थ सामग्रियों को कवि के चित्त में उपस्थित कर देती हैं। इसलिए यदि किसी सुकवि को

महाकवित्व की पदवी प्राप्त करनी हो तो भगवती सरस्वती की कृपा प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है—

(ध्वन्यालोकः) चतुर्थ
उद्योत, कारिका
12 से 17

परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ।

इस प्रकार कवियों को दिशानिर्देश देकर आचार्य आनन्दवर्धन अपने ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं कि काव्य रूपी नन्दन वन में मेरा यह ध्वनि सिद्धान्त कल्पवृक्ष है। और जिस प्रकार पुण्यात्मा लोग नन्दन वन में कल्पवृक्ष के आश्रयण से समस्त मनोभिलषित कामनाओं को प्राप्त कर लेते हैं ठीक उसी प्रकार कविजन एवं सहृदय सज्जन लोग मेरे ध्वनिसिद्धान्त से समस्त काव्यसम्बन्धी इच्छाओं को पूरा करें।

13.2 अवस्थादि के प्रभाव से नानात्व को प्राप्त भी वाच्यार्थ में रस का सन्निवेश आवश्यक, औचित्यपूर्ण रस का सन्निवेश, संवाद का स्वरूप एवं प्रकार, काव्यलेखन की प्रेरणा ।

आनन्दवर्धन कहते हैं कि अवस्था आदि से विभिन्न वाच्यों का निबन्धन लक्ष्य में बहुतायत से देखा जाता है। उसका निराकरण नहीं किया जा सकता। बल्कि वह तो रस के आश्रय से शोभा को प्राप्त करता है। काव्य में वाच्य अवस्था देश काल से निबद्ध होकर अनन्तता को प्राप्त कर लेता है इसके बावजूद भी उस काव्य की शोभा रस के आश्रय से ही होती है। इसलिए कवि को रस के प्रयोग में सावधान रहना चाहिए। काव्य कैसा भी हो रस से ही वो सहृदयजनग्राह्य होता है। और रस सन्निवेश भी औचित्य से समन्वित होना चाहिए। इसका तात्पर्य है कि काव्य में अंगी रस के अनुकूल ही रस प्रयोग करना चाहिए। जैसा प्रसंग हो तदनुकूल रस का प्रयोग हो। इस प्रकार काव्य में रस भाव आदि का प्रयोग कवि करता है तो उसका वर्ण्यविषय अनन्तता को प्राप्त कर लेता है। और एक कवि क्या हजारों वाचस्पति भी मिलकर यत्न करें तो भी उसका वर्ण्य विषय समाप्त नहीं होता। जैसे अनादि काल से चला आ रहा यह संसार प्रकृति द्वारा निर्मित होता रहा है उसके बावजूद भी यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रकृति में अब नये पदार्थ उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है ठीक उसी प्रकार कवि अपनी बुद्धि से वाच्यार्थ का अवस्थादि के भेद से औचित्यपूर्वक रस का सन्निवेश काव्य में करता है तो उसके विषय अनन्तता को प्राप्त हो जाते हैं और कवि की व्युत्पत्ति में भी वृद्धि होती है—

अवस्थादि—विभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम् ।

भूमनैव दृश्यते लक्ष्ये तत्तु भाति रसाश्रयात् ॥

रसभावादिसम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी ।

अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी ॥

वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः ।

निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ॥

ध्वन्यालोक—४.८—१०

ध्वन्यालोकः
(आनन्दवर्धन)
प्रथम एवं चतुर्थ
उद्योत

प्रायशः कविजन देश, काल, अवस्था को ध्यान में रखकर काव्य में वाच्य का प्रयोग करते हैं पर यह शोभा को तभी धारण करता है जब उसमें रस का सन्निवेश किया गया हो। इसलिए औचित्य के साथ काव्य में रस, भाव इत्यादि का प्रयोग किया जाय तो देश काल अवस्था के भेद से उसमें इतनी अनन्तता आ जाती है कि सामान्य कवियों की तो बात छोड़िये हजारों वाचस्पति मिलकर नाना प्रकार के यत्नों से भी जगत की अनन्त प्रकृति का वर्णन नहीं कर सकते। आशय यह है कि जिस प्रकार जगत की प्रकृति अतीत कल्पों की परम्परा से विचित्र वस्तु प्रपञ्च को आविर्भूत करती है फिर भी हम ये नहीं कह सकते कि अब उसमें नये पदार्थ के निर्माण की शक्ति परिक्षीण हो चुकी है। ठीक उसी प्रकार यह काव्य स्थिति अनन्त कवियों द्वारा वर्णित होने पर भी समाप्त नहीं होता प्रत्युत नई-नई व्युत्पत्तियों से और उसका विस्तार होता है।

एक अन्य विषय को उपस्थापित करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं कि विद्वानों एवं कवियों की काव्यरचना से सम्बन्धित चिन्तन में बहुत सारी समानतायें होती हैं। इसे यह नहीं समझना चाहिए की एक ने दूसरे की वस्तु या भाव को चुराया है। प्रत्युत इसे दूसरे तरीके से समझना चाहिए.

संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम् ।

नैकरूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता ॥

ध्वन्यालोक— ४.११

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि इसमें क्या प्रमाण है कि कवि ने दूसरे के भाव का अपहरण नहीं किया है? क्योंकि विल्हण आदि कवियों ने अपने काव्यचोरों से अत्यन्त दुःखित थे और उन्होंने स्पष्ट रूप में लिखा है—

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः!

यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ।

विक्रमाङ्कदेवचरित— १.११

इसलिए ऐसा कैसे कहा जा सकता है कि दोनों कवियों में निरपेक्ष भाव से एक ही समान किसी वस्तु का स्फुरण हुआ और दोनों ने इसे लिखा इसलिए समानता आ गई। इसी जिज्ञासा के समाधान हेतु १२ वीं कारिका लिखी गई। आनन्दवर्धन कहते हैं कि साम्यता निरपेक्ष ढंग से हुई हो या सापेक्ष यदि भाव में या बन्ध में साम्य है तो उसे हम 'संवाद' कहेंगे। और वह तीन तरीके से हो सकता है— १. शरीरियों के प्रतिबिम्ब की भाँति २. आलेख्य के आकार की भाँति और ३. तुल्य शरीरी की भाँति—

संवादो ह्यन्य—सादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत् ।

आलेख्याकारवत्तुल्य—देहिवच्च शरीरिणाम् ॥

संवादो हिकाव्यार्थस्योच्यते यदन्येन काव्य—वस्तुना सादृश्यं । तत्पुनः शरीरिणां प्रतिबिम्बवदालेख्याकारवत्तुल्य—देहिवच्च त्रिधा व्यवस्थितं । किंचिद्धि काव्य—वस्तु वस्त्—अन्तरस्य शरीरिणः प्रतिबिम्ब—कल्पम्, अन्यदालेख्य—प्रख्यम्, अन्यतुल्येन शरीरिणा सदृशं ।

ध्वन्यालोकः-४.१२॥

इस कारिका के प्रथम पाद में संवाद की परिभाषा की गई और शेष तीन पादों में उसके प्रकार बतलाये गए। संवाद की परिभाषा है अन्यसादृश्य अर्थात् जब एक कवि की बुद्धि में आई हुई बात दूसरी कवि के बुद्धि में भी उसी प्रकार स्फुरित हो। अथवा एक की काव्यवस्तु के सदृश ही दूसरे कवि की काव्यवस्तु प्रतीत होती है तो उसे संवाद कहते हैं। और यह सादृश्य या संवाद जैसा की उपर में कहा गया है तीन तरह का होता है। पहला है प्रतिबिम्बवत् अर्थात् जो काव्यवस्तु अपने स्वरूप को प्राप्त कर चुकी है और प्रधान पद पर पर आरूढ हो गई है। उसी काव्यवस्तु को लेकर जब दूसरे काव्य लिखे जाते हैं और भाव में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता अपितु केवल पर्यायवाची शब्दों से वही बात कही जाती है। तब बने हुए काव्यशरीर का प्रतिबिम्ब दूसरे काव्य पर पड़ता है। इसलिए इस प्रकार के काव्य की स्थिति वही होती है जो दर्पण में मानव शरीर के देखने पर उसके प्रतिबिम्ब की होती है। अतः इस तरह का अनुकरण रूप काव्य को प्रतिबिम्बकाव्य कहते हैं।

काव्यमीमांसा में राजशेखर ने प्रतिबिम्बकल्प काव्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि जहाँ सभी अर्थ पुराने कवि का ही कहा हो किन्तु वाक्य रचना दूसरे प्रकार की कर दी जाय उसमें तात्त्विक भेद न हो उस काव्य को प्रतिबिम्बकल्प काव्य कहते हैं—

अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरं यत्र।

तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बकल्पं स्यात्॥

का.मी.१२ अध्याय

जैसे एक पुराना पद्य है —

ते पान्तु वः पशुपतेरलिनीलभासः

कण्ठप्रदेशघटिताः फणिनः स्फुरन्तः।

चन्द्रामृताम्बुकण —सेकसुखप्ररूढै—

रैरङ्कुरैरिव विराजति कालकूटः॥

अर्थात् 'पशुपति के कण्ठ प्रदेश में संलग्न स्फुरित होनेवाले वे सर्प आप लोगों की रक्षा करें। जिनसे कालकूट इस प्रकार शोभित होता है मानों चन्द्र के अमृत रूपी जल के कणों से सींचकर सुखपूर्वक उस कालकूट के अङ्कुर निकल आए हों।'

इसी अर्थ को लेकर एक नवीन पद्य बनाया गया है—

जयन्ति नीलकण्ठस्य कण्ठे नीला महाहयः ।

गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तकालकूटाङ्कुरा इव ॥

नीलकण्ठ के कण्ठ में लगे हुये बड़े बड़े सर्पों की जय हो, जो कि गिरनेवाले गङ्गाजल से सिंचकर उगे हुये कालकूट के अङ्कुर जैसे प्रतीत होते हैं ।'

यहाँ दोनों पद्यों का अर्थ वही है, केवल शब्दभेद कर दिया गया है। इस प्रकार के काव्य को प्रतिबिम्बकल्प काव्य कहते हैं।

सादृश्य या संवाद काव्य का दूसरा प्रकार होता है 'आलेख्याकारवत्' काव्यरचना । अर्थात् जिस प्रकार किसी मूर्त पदार्थ का कोई चित्र उतार लिया जाता है और वह

ध्वन्यालोकः
(आनन्दवर्द्धन)
प्रथम एवं चतुर्थ
उद्योत

चित्र वास्तविक वस्तु के बिल्कुल समानाकार मालूम पड़ता है। उस काव्य को आलेख्याकारवत् कह सकते हैं। आलेख्याकारवत् की परिभाषा काव्यमीमांसा में इस प्रकार दी गई है—

कियतापि यत्र संस्कारकर्मणा वस्तु भिन्नवदभाति ।

तत्कथित –मर्थचतुरैरालेख्यप्रख्यमिति काव्यम्॥

अर्थात् जहाँ काव्यवस्तु तो पुरानी ही ली जाय किन्तु उसका कुछ थोड़ा सा संस्कार कर दिया जाय जिससे वस्तु भिन्न जैसी प्रतीत होने लगे उस काव्य को अर्थचतुर लोग 'आलेख्यप्रख्य काव्य' कहते हैं। जैसे ऊपर के ही भाव को लेकर एक दूसरा पद्य बनाया गया है —

जयन्ति धवलव्यालाः शम्भोर्जूटावलम्बिनः ।

गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तचन्द्रकन्दाङ्कुरा इव॥

'शङ्कर जी के जटाजूट में लम्बमान श्वेत सर्पों की जय हो, जो ऐसे शोभित होते हैं मानों गिरनेवाले गङ्गाजल से सींचकर, चन्द्ररूपीमूल से अङ्कुर निकल आए हों।

बात वही है किन्तु अन्तर यह पड़ गया है कि मूल पद्य में चन्द्रामृत को जल माना गया था इसमें गङ्गाजल के द्वारा सिञ्चन का उपादान किया गया है। पहले कृष्ण सर्प थे इसमें श्वेत सर्प हैं, पहले कालकूट के अंकुर थे इसमें चन्द्र के अंकुर हैं। इस प्रकार थोड़ा सा संस्कार कर देने से यह भाव कुछ कुछ नया सा हो गया है। इस प्रकार का काव्य 'आलेख्यप्रख्य' कहलाता है।

(३) तीसरे प्रकार का काव्य होता है 'तुल्यदेहिवत्' अर्थात् जिस प्रकार दो व्यक्ति एक सी ही आकृतिवाले होते हैं और उन दोनों को देखकर यह कहा जाता है कि दोनों की आकृति एक जैसी ही है। उसी प्रकार भावों के मेल के कारण जहाँ पर यह कहा जाता है कि दोनों पद्य एक जैसे ही हैं उस काव्य को 'तुल्यदेहिवत्' कहते हैं। तुल्यदेहिवत् काव्य की परिभाषा काव्यमीमांसा में यह दी गई है—

विषयस्य यत्र भेदेऽप्यभेदबुद्धिर्नितान्तसादृश्यात् ।

तत्तुल्य देहितुल्यं काव्यं निबध्नन्ति सुधियोऽपि ॥

अर्थात् जहाँ विषय का भेद होते हुये भी अत्यन्त सादृश्य के कारण अभेद बुद्धि भासित होने लगती है, उस काव्य को तुल्यदेहिवत् काव्य कहते हैं। इस प्रकार के काव्य का निबन्धन बुद्धिमान् लोग भी करते हैं। उदाहरण के लिए एक पुराना पद्य है—

अवीनादौ कृत्वा भवति तुरगो यावदवधि

पशुधन्यस्तावत् प्रतिवसति यो जीवति सुखम् ।

अमीषां निर्माणं किमपि तदमृद्गधकरिणाम्

वनं वा क्षोणीभृद्भवनमथवा येन शरणम् ॥

जो पशु अश्व, भेड़ों को आगे करके जब तक रहता है अपने साथ इन भेड़ों को भी सुख पहुँचाता है तब तक वह सुखपूर्वक रहता है और जीता भी है ऐसा पशु धन्य है। इन भाररूप नष्ट हाथियों का निर्माण ही कैसा अर्थात् व्यर्थ हुआ जिनका निवास या तो वन में होता है या राजाओं के घर में होता है। आशय यह है कि जो सभी के काम

नहीं आ सकते उनका जीवन व्यर्थ है।' इसी अर्थ को लेकर एक दूसरा पद्य लिखा गया है—

(ध्वन्यालोकः) चतुर्थ
उद्योत, कारिका
12 से 17

प्रतिग्रहमुपलानामेक एव प्रकारो
मुहुरूपकरणत्वादर्चिताः पूजिताश्च ।
स्फुरितहतमणीनां किन्तु तद्धाम येन
क्षितिपतिभवने वा स्वाकरे निवासः ॥

प्रत्येक घर में पत्थरों का एक ही प्रकार है जो उपभोग का साधन होने के कारण बार-बार अर्चित किया जाता है और पूजा जाता है। किन्तु इन अभागिन मणियों का एक अद्वितीय प्रकाश स्फुरित हो रहा है। जिससे उनका निवास या तो राजभवनों में होता है या अपनी खानों में ही होता है ।

यहाँ पर दोनों पद्यों का निष्कृष्टार्थ एक ही है, जीवन उसी का धन्य है जो सभी का उपकार करता है, किन्तु इस अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिये जिन विषयवस्तुओं का उपादान किया गया है वे दोनों परस्पर भिन्न हैं। इस प्रकार विभिन्न वस्तुएँ ऐसी मालूम पड़ती हैं जैसे दो शरीरी अत्यन्त सादृश्य के कारण एक जैसे मालूम पड़ते हैं। अतः यह प्रकार तुल्यदेहितुल्य कहा जा सकता है ।

इस प्रकार १२ वीं कारिका में सम्वाद का स्वरूप और उसके प्रकार की चर्चा की गई। अब आगे की कारिका में उसकी उपादेयता पर विचार प्रस्तुत करते हैं—

तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम् ।
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्य-साम्यं त्यजेत्कविः ॥

तत्र पूर्व प्रतिबिम्ब-कल्पं काव्य-वस्तु परिहर्तव्यं सुमतिना । यतस्तद्-अनन्यात्म तात्त्विक-शरीर-शून्यं । तद्-अनन्तरं आलेख्य-प्रख्यं अन्य-साम्यं शरीरान्तर-युक्तं अपि तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यं । तृतीयं तु विभिन्न-कमनीय-शरीर-सद्भावे सति ससंवादं अपि काव्य-वस्तु न त्यक्तव्यं कविना । न हि शरीरी शरीरिणान्येन सदृशोऽप्येक एवेति शक्यते वक्तुं ।

ध्वन्यालोकः— ४.१३

भाव है कि सम्वाद के तीनों प्रकार में पहला जो प्रकार है प्रतिबिम्बवत् वह अनन्यात्म रूप है अर्थात् दोनों में कोई भेद नहीं है दोनों की आत्मा ही एक है। इसलिए कवि को ऐसे सादृश्य से बचना चाहिए। और दूसरा जो प्रकार है आलेख्याकारवत् वह है तुच्छात्म अर्थात् अन्य का साम्य वाला अन्य शरीर से युक्त होकर भी तुच्छरूप होता है। इसलिए बुद्धिमान कवि ऐसे तुच्छ सादृश्य से जरूर बचे। और तीसरा है 'तुल्यदेहित्व' अर्थात् शरीरी अन्य शरीर से एक सदृश होने पर भी दोनों एक हैं यह नहीं कहा जा सकता। इसलिए ऐसे सादृश्य को सहृदयजन स्वीकार करते हैं फलतः ऐसे सम्वाद को कविजन जरूर महत्व दें। ऐसे सम्वाद कवि के काव्य के लिए उत्कर्षाधायक है।

इस प्रकार प्रतिबिम्बकल्प और आलेख्यप्रख्य रचना करने से कवि निन्दनीय हो जाता है, किन्तु यदि तुल्यदेहित्व रचना की जाय तो कवि को दोष नहीं होता। उसी बात को आगे की कारिका में सिद्ध किया जा रहा है कि तुल्यदेहित्व काव्यरचना करने में कवि को दोष नहीं होता—

ध्वन्यालोकः
(आनन्दवर्द्धन)
प्रथम एवं चतुर्थ
उद्योत

आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि ।

वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम्॥१४॥

तत्त्वस्य सार-भूतस्यात्मनः सद्-भावेऽन्यस्य पूर्व-स्थित्य-अनुयाय्यपि वस्तु भातितराम् ।

पुराण-रमणीय-च्छायानुगृहीतं हि वस्तु शरीरवत्परां शोभां पुष्यति । न तु पुनरुक्तत्वेनावभासते । तन्व्याः शशि-च्छायम् इवाननम्

अन्य आत्मा के सद्भाव में अन्य की पूर्व स्थिति का अनुसरण करने वाला भी काव्यार्थ चन्द्रमा की छाया के सदृश तन्वी के मुख की भाँति अधिकतर शोभा देता है ।

कारिका का सार यह है कि 'काव्य की आत्मा दूसरी होनी चाहिये । आत्मा का अर्थ है तत्त्व अथवा सार । यदि इस प्रकार की आत्मा में तादात्म्य नहीं होता तो वह काव्य नवीन ही कहा जाता है । फिर चाहे उस काव्य का निर्माण किसी पुराने काव्य की छाया पर ही हुआ हो । जैसे सुन्दरियों के मुख चन्द्र के समान हुआ करते हैं । उनमें भी पूर्णचन्द्र की जैसी आकृति और वैसी ही रमणीयता विद्यमान रहती है किन्तु उनमें लावण्य का भेद होता है । नायिकाओं के मुख पर एक ऐसी यौवनजन्य चमक और आह्लादकता होती है जैसी चन्द्र में नहीं होती । चन्द्र का लावण्य दूसरे ही प्रकार का होता है । इस प्रकार यद्यपि नायिकाओं के मुख का निर्माण पूर्णचन्द्र के जैसा ही हुआ है फिर भी लावण्य का भेद होने के कारण यह कोई नहीं कहता कि चन्द्र और मुख दोनों एक ही वस्तु हैं । ठीक उसी प्रकार तुल्यदेहिवत् काव्य एक होते हुए भी भिन्न होते हैं । इसलिए ऐसी रचना करने में कवि को सङ्कोच नहीं करनी चाहिए ।

इस प्रकार संवाद से युक्त समुदायरूप वाक्यार्थों की सीमाएँ विभक्त हो गई हैं । अर्थात् वाक्यार्थ जो कि शब्दार्थसमुदायरूप होते हैं यदि एक दूसरे से मेल खा रहे हो अर्थात् एक कवि का शब्दार्थसमुदायरूप वाक्यार्थ दूसरे कवि के शब्दार्थसमुदायरूप वाक्यार्थ से मेल खा रहा हो तो उसकी सीमायें क्या क्या होती हैं? और कौन सा प्रकार उपादेय है? तथा कौन सा प्रकार त्याज्य है? यदि काव्यवस्तु पदार्थ की दिशा में दूसरी वस्तु के समान हो तो उसके मेल खाने में पौनरुक्त्य इत्यादि दोष नहीं होते हैं । इसी को बताने के लिए निम्न कारिका अवतरित हुई है—

एवं तावत्स-संवादानां समुदाय-रूपाणां वाक्यार्थानां विभक्ताः सीमानः ।
पदार्थ-रूपाणां च वस्त्वन्तर-सदृशानां काव्य-वस्तूनां नास्त्येव दोष इति
प्रतिपादयितुम् उच्यते—

अक्षरादि-रचनेव योज्यते यत्र वस्तु-रचना पुरातनी ।

नूतने स्फुरति काव्य-वस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति॥

ध्वन्यालोकः— ४.१५

जिस प्रकार पुराने अक्षरों एवं शब्दों का प्रयोग किये जाने पर यह कोई नहीं कहता कि कवि ने कोई नई बात नहीं कही है । पुराने अक्षरों और पदों का प्रयोग नवीनता का विरोधी नहीं होता । उसी प्रकार जब नवीन रूप में स्फुरित होनेवाली काव्यवस्तु में पुरानी वस्तुरचना संयोजित की जाती है तब स्पष्ट ही उसमें पौनरुक्त्य का दोष नहीं होता ।

जैसे वाचस्पति भी कुछ लिखना चाहें तो वे भी उन्हीं पुराने अक्षरों और शब्दों का प्रयोग करेंगे नवीन अक्षर या शब्दों की रचना नहीं कर सकते। और जिस प्रकार पुराने अक्षरों एवं शब्दों के प्रयोग करने पर भी कोई भी आलोचक यह नहीं कहता कि ये तो अनुकरण है या इसमें कोई नवीनता नहीं है। ठीक उसी प्रकार कवि शब्दों के अर्थों और श्लेष इत्यादि के क्षेत्र में परम्परा का ही पालन करता रहता है और पुराने अर्थों को ही लिखता रहता है फिर भी उसकी नवीनता त्रुटित नहीं होती। इसलिए—

न हि वाचस्पतिनाप्यक्षराणि पदानि वा कानिचिदपूर्वाणि घटयितुं शक्यन्ते
। तानि तु तान्येवोपनिबद्धानि न काव्यादिषु नवतां विरुद्ध्यन्ति । तथैव
पदार्थ—रूपाणि श्लेषादि—मयान्यर्थ—तत्त्वानि । तस्मात्—
यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते ।
अनुगतमपि पूर्व—च्छायया वस्तु तादृक्
सुकविरुपनिबन्धननिन्दतां नोपयाति । ।
ध्वन्यालोकः— ४.१६

जहाँ लोक की यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि यह कुछ स्फुरित हुआ है वह चाहे जो हो रमणीय होता है। और नवीन स्फुरण होने से सहृदयों में चमत्कार भी उत्पन्न करता है। सुकवि उस प्रकार की वस्तु को पूर्वच्छाया के रूप में भी उपनिबद्ध करते हुए निन्दता को प्राप्त नहीं होता।

तात्पर्य है कि जिस कविता को पढ़कर सहृदयों की बुद्धि में यह आभासित होने लगे कि इस कविता में कुछ स्फुरित हुआ है वह चाहे पुराना हो चाहे नया, रमणीय ही कहा जायेगा। 'कुछ स्फुरित' होने का आशय यह है कि जिसको पढ़कर सहृदय लोग चमत्कृत हो जायँ अर्थात् सहृदयों की बुद्धि में आस्वाद उत्पन्न हो जाय। तात्पर्य यह है कि रमणीयता का एकमात्र आधार है सहृदयों को आस्वादमय चमत्कार की अनुभूति। यदि यह अनुभूति उत्पन्न हो जाती है तो इस बात का कोई महत्त्व नहीं रह जाता कि उस अनुभूति का साधन क्या है? क्या वह कोई अर्थ है या पुराना? इन प्रश्नों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। अतएव यदि कवि ऐसी वस्तु का उपनिबन्धन करता है जो आस्वादमय चमत्कार को उत्पन्न करती हैं तो फिर वह चाहे पुरानी छाया से अनुगत ही क्यों न हो उस कवि की निन्दा नहीं होती।

आगे आनन्दवर्धन नवोदित कवियों को निर्देशित करते हुए लिखते हैं कि कवियों को चाहिए की वे अमृत रस के तुल्य विविध अर्थों वाली वाणियों का प्रसार करे। उसे अपनी वाणी की अनवद्यता अर्थात् असमर्थता या फिर असहृदयसंवेद्यता को लेकर मन में अवसादग्रस्त नहीं होना चाहिए। और नये अर्थ तो हैं ही इसलिए दूसरे के काव्यार्थ को लेकर काव्य करने से क्या फायदा है ऐसा सोचने वाले कवि अर्थात् दूसरे के विषय को ग्रहण की इच्छा न करने वाले स्वाभिमानी सुकवि को भी भगवती सरस्वती उनकी बुद्धि में नवीन समस्त इच्छित काव्यार्थों को उपस्थित कर देती है—

प्रतायन्तां वाचो निमित्तविविधार्थामृतरसा
न सादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये ।
परस्वादानेच्छा विरतमनसो वस्तु सुकवेः
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ॥

ध्वन्यालोकः
(आनन्दवर्द्धन)
प्रथम एवं चतुर्थ
उद्योत

पर—स्वादानेच्छाविरत—मनसः सुकवेः सरस्वत्येषा भगवती यथेष्टं घटयति वस्तु।
येषां सुकवीनां प्राक्तन—पुण्याभ्यास—परिपाक—वशेन प्रवृत्तिस्तेषां परोपरचितार्थ—
परिग्रह—निःस्पृहाणां स्व—व्यापारो न क्वचिदुपयुज्यते। सैव भगवती सरस्वती
स्वयमभिमतम् अर्थमाविर्भावयति। एतदेव हि महाकवित्वं महाकवीनाम् इति ॐ।

ध्वन्यालोक— ४.१७

तात्पर्य है कि कवि को निश्चिन्त होकर अपनी कवित्व शक्ति का विस्तार करना चाहिए। जो कुछ भी हृदय में स्फुरित हो उसको निःसंकोच भाव से व्यक्त करना चाहिये। बस उसे यह ध्यान रखना चाहिये कि उसकी वाणी से जो वर्ण या शब्द निकले वे अर्थगर्भित हों और प्रत्येक अर्थ अमृत के समान काव्यरस से ओतप्रोत हो। उसको यह समझ लेना चाहिये कि कविता का अनन्त क्षेत्र हो सकता है और कवि के असंख्य विषय हो सकते हैं। कोई भी विषय कवि की वाणी में आकर निन्दनीय नहीं रह जाता। अतः कवि को अपने मन में अवसाद नहीं आने देना चाहिये कि उसकी वाणी निम्न कोटि की है, अथवा उसकी वाणी में नवीनता नहीं है, या उसकी वाणी सहृदय संवेद्य नहीं है। उसे यह समझकर भी मन में अवसाद नहीं आने देना चाहिए कि 'नये काव्यार्थ विद्यमान हैं ही इसलिए पुराने अर्थों को लेकर कविता करने में कवि की क्या विशेषता? साथ ही जिन लोगों को यह दृढ धारणा बन गई है कि नवीन अर्थ के लिखने में ही कवि का गौरव होता है पुराना अर्थ लिखना उसके लिये व्यर्थ है उन्हें भी यह समझकर निराश नहीं होना चाहिये कि अब हम नया अर्थ कहाँ से लायें। क्योंकि यदि उनकी यह धारणा बन जायेगी तो या तो वे काव्यक्रिया से विमुख हो जायेंगे या दूसरों के बनाये हुए काव्य को आश्रय लेकर उसी के अधीन कविता करने लगेंगे। ये दोनों स्थितियाँ श्रेयस्कर नहीं हैं। न तो उनका काव्यक्रिया को छोड़ बैठना ही वाञ्छनीय है और न सर्वथा परमुखापेक्षी हो जाना ही उचित है। ऐसी दशा में या तो काव्यरचना होगी ही नहीं या यदि होगी भी तो प्रतिबिम्बकल्प अथवा आलेख्यवत् होगी। आनन्दवर्द्धन लिखते हैं ऐसे कवियों को भी निराश होने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि भगवती सरस्वती में अपूर्व शक्ति है। वे ऐसे लोगों के हृदय में स्वयं ही उस समस्त नवीन अर्थ—समूह को उपस्थित कर देती हैं, जो कि एक कवि के लिये वाञ्छनीय होता है। जिन कवियों की काव्य में प्रवृत्ति या तो पूर्वजन्म के सञ्चित पुण्यों के प्रभाव से होती है या अभ्यास का पूरा परिपाक कर लेने पर होती है तथा दूसरों के रचे हुये अर्थ का उपादान करना ही नहीं चाहते उनको यह आवश्यकता नहीं होती कि वे स्वयं अपने प्रयत्न से नवीन अर्थों की कल्पना करें। यह तो भगवती सरस्वती की उन पर अनुकम्पा का ही प्रभाव है कि उन्हें नये-नये अर्थ एकदम दृष्टिगत हो जाते हैं। भगवती सरस्वती की इस प्रकार की कृपा प्राप्त कर लेना ही महाकवियों का महाकवित्व है।

इस प्रकार कवियों को निर्देशित करते हुए आनन्दवर्द्धनाचार्य अपने ग्रन्थ का 'ओम्' इस महामन्त्र से अन्त में मङ्गलाचरण करते हैं। क्योंकि 'मङ्गलादौ मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि भवन्ति अध्येतारश्च वृद्धियुक्ताः स्युः' यह महाभाष्यकार का वचन है। इस प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए यह ग्रन्थ के अन्त में मङ्गलाचरण का व्यवहार किया है। इसके बाद दो और श्लोक से आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण करते हैं—

इत्यविलष्ट-रसाश्रयोचित-गुणालङ्कार-शोभा-भूतो
यस्माद्वस्तु समीहितं सुकृतिभिः सर्वं समासाद्यते ।
काव्याख्येऽखिल-सौख्य-धाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः
सोऽयं कल्पतरुपमान-महिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम्॥

(ध्वन्यालोकः) चतुर्थ
उद्योत, कारिका
12 से 17

अर्थात् कष्ट रहित, रस के आश्रय से उचित, गुण और अलङ्कार की शोभा वाले जिस काव्य रूपी स्वर्ग के उद्यान के कल्पवृक्ष से सुकृती लोग समस्त अभीष्ट वस्तु को प्राप्त कर लेते हैं। उसी प्रकार समस्त सुख के धाम इस काव्य नामक नन्दनवन में कल्पवृक्ष की भाँति महिमा को धारण करने वाला यह ध्वनिसिद्धान्त सौभाग्यशाली लोगों द्वारा उपभोग का विषय बने।

प्रस्तुत पद्य में काव्य पर नन्दनवन का आरोप किया गया है और ध्वनि को कल्पवृक्ष की उपमा दी गई है। यहाँ पर कई शब्द द्वयर्थक हैं—(१) रस= काव्य रस तथा जल, (२) गुण= माधुर्यादि तथा सौकुमार्य इत्यादि, (३) अलङ्कार= उपमा इत्यादि तथा सीमा तक पहुँचा देना, (अलम् अर्थात् समाप्ति और कार अर्थात् करना), (४) समीहितवस्तु= व्युत्पत्ति, कीर्ति, प्रीति इत्यादि तथा मनचाही वस्तु, (५) सुकृति= काव्यतत्त्ववेत्ता सहृदय तथा समीहित की प्राप्ति के लिये ज्योतिष्टोम इत्यादि यज्ञ करनेवाले, (६) विबुध= विद्वान् तथा देवता । यहाँ पर देवोद्यान नन्दन अप्रस्तुत है और काव्य प्रस्तुत है। यहाँ पर उपमानोपमेयभाव के अनुसार इस पद्य का यह अर्थ होगा— जिस प्रकार विना कष्ट के प्राप्त रस = जल से सींचने से देवोद्यान सभी वाञ्छनीय गुणों को प्राप्त कर लेता है। तथा पुण्यात्मा लोग उस नन्दनवन से अपनी मनचाही वस्तु प्राप्त कर लेते हैं। उसी प्रकार नन्दनोद्यान की भाँति इस काव्यजगत् में गुणों और अलङ्कारों का प्रयोग रस निष्पत्ति के अनुकूल होता है। और जिस प्रकार नन्दनवन से पुण्यात्माओं को सब कुछ मिल जाता है उसी प्रकार सहृदय को काव्य से व्युत्पत्ति, कीर्ति, प्रीति इत्यादि सभी कुछ प्राप्त हो जाता है।

अगले श्लोक में आनन्दवर्धन ने साहित्यशास्त्र में अपने योगदान को अत्यन्त शिष्टता के साथ प्रस्तुत करते हैं—

सत्-काव्य-तत्त्व-नय-वर्त्म-चिर-प्रसुप्त-
कल्पं मनःसु परिपक्व-धियां यदासीत् ।
तद्वयाकरोत्सहृदयोदय-लाभ-हेतो-
रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः॥

अर्थात् उत्तम काव्य रचना का तत्त्व और नीति का जो मार्ग परिपक्व बुद्धि वाले सहृदय विद्वानों के मन में चिर काल से प्रसुप्त के समान अर्थात् अव्यक्त रूप में स्थित था, उसे सहृदयों की अभिवृद्धि और लाभ के लिए मैं आनन्दवर्धन इस नाम से प्रसिद्ध उस तत्त्व को प्रकाशित किया।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने इस श्लोक के माध्यम से फिर एक बार अनुबन्धचतुष्टय की ओर भी संकेत किया है जैसे निगूढ तत्त्व का प्रकाशन विषय है, सहृदयों को उदय प्रदान करना यह ग्रन्थ का प्रयोजन है। सहृदय उसके अधिकारी हैं। और काव्यसम्बन्धी अन्य तत्त्व विषय से सम्बद्ध है और इस प्रकार अनुबन्ध चतुष्टय के साथ ग्रन्थ की पूर्णता होती है।

ध्वन्यालोकः
(आनन्दवर्द्धन)
प्रथम एवं चतुर्थ
उद्योत

मूलपाठः—

इत्थं यथा यथा निरूप्यते तथा तथा न लभ्यतेऽन्तः काव्यार्थानाम् । इदं तूच्यते—
अवस्थादि—विभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम् ।

यत्प्रदर्शितं प्राक्

भूमनैव दृश्यते लक्ष्ये—

न तच्छक्यमपोहितुम् ।

—तत्तु भाति रसाश्रयात् ॥ध्वन्यालोकः— ४.८॥

तदिदमत्र सङ्क्षेपेणाभिधीयते सत्कवीनामुपदेशाय—

रस—भावादि—सम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी ।

अन्वीयते वस्तु—गतिर्देश—कालादि—भेदिनी ॥

ध्वन्यालोकः— ४.९॥

तत्का गणना कवीनामन्येषां परिमितशक्तीनाम्—

वाचस्पति—सहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः ।

निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ॥

ध्वन्यालोकः— ४.१०॥

यथा हि जगत्प्रकृतिरतीत—कल्प—परम्पराविर्भूत—विचित्र—वस्तु—प्रपञ्चा सती पुनरिदानीं
परिक्षीणा पर—पदार्थ—निर्माण—शक्तिरिति न शक्यतेऽभिधातुम् । तद्वदेवेयं काव्य—
स्थितिरनन्ताभिः कवि—मतिभिरुपभुक्तापि नेदानीं परिहीयते, प्रत्युत नव—नवाभिव्युत्पत्तिभिः
परिवर्धते । इत्थं स्थितेऽपि

संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम् ।

स्थितं ह्येतत्संवादिन्य एव मेधाविनां बुद्धयः । किन्तु—

नैक—रूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता ॥

ध्वन्यालोकः— ४.११॥

कथमिति चेत्—

संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत् ।

आलेख्याकारवत्तुल्य—देहिवच्च शरीरिणाम् ।

ध्वन्यालोकः— ४.१२॥

संवादो हि काव्यार्थस्योच्यते यदन्येन काव्य—वस्तुना सादृश्यम् । तत्पुनः शरीरिणां
प्रतिबिम्बवदालेख्याकारवत्तुल्य—देहिवच्च त्रिधा व्यवस्थितम् । किञ्चिद्धि काव्यवस्तु
वस्त्वन्तरस्य शरीरिणः प्रतिबिम्ब—कल्पम्, अन्यदालेख्य—प्रख्यम्, अन्यतुल्येन शरीरिणा सदृ
शम् ।

तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम् ।

तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्य—साम्यं त्यजेत्कविः ॥

ध्वन्यालोकः— ४.१३ ॥

तत्र पूर्वं प्रतिबिम्ब—कल्पं काव्य—वस्तु परिहर्तव्यं सुमतिना । यतस्तदनन्यात्म
तात्त्विक—शरीर—शून्यम् । तदनन्तरमालेख्य—प्रख्यमन्य—साम्यं शरीरान्तर—युक्तमपि
तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यम् । तृतीयं तु विभिन्न—कमनीय—शरीर—सद्भावे सति ससंवादमपि
काव्य—वस्तु न त्यक्तव्यं कविना । न हि शरीरी शरीरिणान्येन सदृशोऽप्येक एवेति शक्यते
वक्तुमा ध्व— ४.१३ ॥ एतदेवोपपादयितुमुच्यते—

आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्व—स्थित्यनुयाय्यपि ।

वस्तु भातितरां तन्व्याः शशि—च्छायमिवाननम् ॥

ध्वन्यालोकः—४.१४ ॥

तत्त्वस्य सार—भूतस्यात्मनः सद्—भावेऽन्यस्य पूर्व—स्थित्यनुयाय्यपि वस्तु भातितराम् ।
पुराण—रमणीयच्छायानुगृहीतं हि वस्तु शरीरवत्परां शोभां पुष्यति । न तु
पुनरुक्तत्वेनावभासते । तन्व्याः शशिच्छायमि वाननमा ध्वा— ४.१४ ॥

एवं तावत्संवादानां समुदाय—रूपाणां वाक्यार्थानां विभक्ताः सीमानः । पदार्थ—रूपाणां च
वस्त्वन्तर—सदृशानां काव्य—वस्तूनां नास्त्येव दोष इति प्रतिपादयितुमुच्यते—

अक्षरादि—रचनेव योज्यते यत्र वस्तु—रचना पुरातनी ।

नूतने स्फुरति काव्य—वस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति ॥

ध्वन्यालोकः— ४.१५ ॥

न हि वाचस्पतिनाप्यक्षराणि पदानि वा कानिचिदपूर्वाणि घटयितुं शक्यन्ते । तानि तु
तान्येवोपनिबद्धानि न काव्यादिषु नवतां विरुध्यन्ति । तथैव पदार्थ—रूपाणि श्लेषादि—
मयान्यर्थ—तत्त्वानि । तस्मात्—

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्

स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते ।

स्फुरणेयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते ।

अनुगतमपि पूर्व—च्छायया वस्तु तादृक्

सुकविरुपनिबध्नन्निन्द्यतां नोपयाति ॥

ध्वन्यालोकः—४.१६ ॥

तदनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्तादृक्षं सुकविर्विवक्षित—व्यङ्ग्य—वाच्यार्थ—समर्पण—
समर्थ—शब्द—रचना—रूपया बन्ध—च्छाययोपनिबध्नन्—निन्द्यतां नैव याति । तदित्थं
स्थितम्—

प्रतायन्तां वाचो निमित्त—विविधार्थामृत—रसा

न सादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्व—विषये ।

सन्ति नवाः काव्यार्थाः परोपनिबद्धानि—विरचने न कश्चित्कवेर्गुण इति भावयित्वा ।

परस्वादानेच्छा—विरत—मनसो वस्तु सुकवेः

सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ॥

ध्वन्यालोकः
(आनन्दवर्द्धन)
प्रथम एवं चतुर्थ
उद्योत

ध्वन्यालोकः—४.१७॥

पर—स्वादानेच्छाविरत—मनसः सुकवेः सरस्वत्येषा भगवती यथेष्टं घटयति वस्तु। येषां सुकवीनां प्राक्तन—पुण्याभ्यास—परिपाक—वशेन प्रवृत्तिस्तेषां परोपरचितार्थ—परिग्रह—निःस्पृहाणां स्व—व्यापारो न क्वचिदुपयुज्यते। सैव भगवती सरस्वती स्वयमभिमतमर्थमाविर्भावयति। एतदेव हि महाकवित्वं महाकवीनामित्योम्।

इत्यक्लिष्ट—रसाश्रयोचित—गुणालङ्कार—शोभा—भृतो
यस्माद्वस्तु समीहितं सुकृतिभिः सर्वं समासाद्यते।
काव्याख्येऽखिल—सौख्य—धाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः
सोऽयं कल्पतरुपमान—महिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम्॥

सत्—काव्य—तत्त्व—नय—वर्त्म—चिर—प्रसुप्त—
कल्पं मनस्सु परिपक्व—धियां यदासीत्।
तद्वयाकरोत्सहृदयोदयलाभहेतोद्
रानन्दवर्द्धन इति प्रथिताभिधानः॥

13.3 सारांश

प्रस्तुत इकाई में बतलाया गया कि काव्य में वाच्य, अवस्था देश काल से निबद्ध होकर अनन्तता को प्राप्त कर लेता है इसके बावजूद भी उस काव्य की शोभा रस के आश्रय से ही होती है। इसलिए कवि को रस के प्रयोग में सावधान रहना चाहिए। काव्य रस से ही सहृदयजनग्राह्य होता है। और रस सन्निवेश भी औचित्य से समन्वित होना चाहिए। जैसे अनादि काल से प्रकृति द्वारा निर्मित यह संसार अपनी नवीनता को बनाये हुए है उसी प्रकार कविजन अपनी प्रतिभा के बल से वाच्यार्थ के अवस्थादि के प्रभाव से रस के औचित्यपूर्ण सन्निवेश से काव्य में नवीनता का संचार कर देता है। और एक कवि क्या हजारों वाचस्पति भी मिलकर यत्न करें तो भी उसका वर्ण्य विषय समाप्त नहीं होता। जैसे अनादि काल से चला आ रहा यह संसार प्रकृति द्वारा निर्मित होता रहा है उसके बावजूद भी यह नहीं कहा जा सकता है कि प्रकृति में अब नये पदार्थ उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है ठीक उसी प्रकार कवि अपनी बुद्धि से वाच्यार्थ का अवस्थादि के भेद से औचित्यपूर्वक रस का सन्निवेश काव्य में करता है तो उसके विषय अनन्तता को प्राप्त हो जाते हैं और कवि की व्युत्पत्ति में भी वृद्धि होती है।

इसके अतिरिक्तसंवाद की परिभाषा दी गई है 'संवादो ह्यन्यसादृश्यम्' अर्थात् जब कवियों की बुद्धि में एक जैसे भाव का स्फुरण होता है और वह काव्यरूप में उपनिबद्ध हो जाते हैं तो दोनों की काव्यवस्तु एक जैसी प्रतीत होने लगती है। इसे ही संवाद या सादृश्य कहते हैं। यह संवाद तीन प्रकार का होता है— १. शरीरियों के प्रतिबिम्ब की भाँति २. आलेख्य के आकार की भाँति और ३. तुल्य शरीरी की भाँति। इसमें पहला जो प्रकार है उसमें दोनों काव्य का आत्मतत्त्व एक ही होता है। जैसे शीशे के सामने कोई व्यक्ति खड़ा होता है और उसका प्रतिबिम्ब ठीक उसके जैसा दिखता है वैसे ही इस तरह का काव्य हूबहू उपजीव्य जैसा दिखता है। इसलिए इस तरह का काव्य सहृदयजन ग्राह्य नहीं होता। दूसरा प्रकार है 'आलेख्य के आकार की भाँति' इसमें

कवि पूर्व काव्य का इस प्रकार अनुकरण करता है कि आत्मा तो नहीं किन्तु पूरा शारीरिक ढाँचा एक जैसा दिखता है। जैसे कोई चित्रकार किसी व्यक्ति को देखकर उसका चित्र बनाता है तो उस चित्र को देखकर यह कोई नहीं कह सकता है कि यह चित्र उस व्यक्ति का नहीं है अपितु चित्र को ही लोग उस व्यक्ति की अनुपस्थिति में प्रस्तुत करते हैं। जैसे रामायण में सीता की अनुपस्थिति में उनकी मूर्ति को स्थापित करके राम ने यज्ञ का अनुष्ठान किया था। इस प्रकार इस तरह के संवाद को भी तुच्छात्म शब्द से कहा गया है इसलिए कवि को ऐसे संवाद से बचना चाहिए। इन तीनों में तीसरा प्रकार 'तुल्यदेहिवत्' अर्थात् तुल्य शरीरी की भाँति है इसमें सादृश्य वैसा होता है जैसे दो व्यक्ति आकृति एक जैसी मिलती है पर दोनों एक दूसरे से भिन्न होते हैं। ठीक उसी प्रकार दोनों काव्य एक जैसे होने पर भी भिन्न होते हैं इस तरह का सादृश्य सहृदयजन मान्य है।

और भी यदि कवि को या फिर सहृदय को लगे कि यह काव्य में यह नया स्फुरण है तो फिर भले ही कवि ने अनुकरण से काव्य की रचना की है उसे निन्द्य नहीं माना जा सकता है। जिस प्रकार सभी कवि पुराने अक्षर, और शब्द का प्रयोग करते हैं फिर भी कोई आलोचक उन्हें ये नहीं कहता कि इन्होंने उन्हीं अक्षरादि की प्रयोग किया कुछ नया नहीं लिखा ठीक उसी प्रकार कवि द्वारा पुराने काव्यार्थ को लेकर यदि नवीनता का आधान किया जाता है तो वह कथमपि निन्दा के योग्य नहीं है अपितु प्रशंसनीय होता है। आगे आनन्दवर्धन ने कवियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि कवि को निःसंकोच होकर काव्य की रचना करनी चाहिए यह नहीं सोचना चाहिए कि हममें नई बात कहने का सामर्थ्य नहीं है या मैं सहृदयसंवेद्य रचना करने में असमर्थ हूँ। कवि को चाहिए वह पुराने और प्रसिद्ध कवियों के काव्यवस्तुओं का तुल्यदेहिवत् सादृश्य की तरह अनुकरण करे और अपने काव्य को सहृदयजनग्राह्य बनाये। जो कवि पुराने कवियों से कुछ भी ग्रहण नहीं करना चाहते ऐसे कवियों के लिए आनन्दवर्धन दिलासा दिलाते हैं कि उन्हें भी परेशान होने की जरूरत नहीं है भगवती सरस्वती ऐसे अभिमानी कवि के लिए वो सभी काव्यसामग्रियाँ उसके मन मस्तिष्क में उपस्थित कर देती है। कवि को अपने अन्दर ऐसी योग्यता अर्जित करनी चाहिए की माँ सरस्वती की कृपा उसे प्राप्त हो सके। तभी वह कवि से महाकवित्व की पदवी को धारण कर सकता है। और इसी के साथ ऊँ इस प्रणव से ग्रन्थ का अन्तिम मङ्गलाचरण करते हैं। और फिर दो आशीर्वादात्मक पद्यों से ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं। प्रथम पद्य में वे कवियों सहृदयों का आह्वान करते हैं कि नन्दनवन में कल्पवृक्ष से सुकृतिजन जिस प्रकार वाञ्छित मनोकामनाओं को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार आप सभी भी काव्य में विद्यमान इस ध्वनितत्त्व से काव्यसम्बन्धी सभी इच्छाओं को पूरा करें और दूसरे पद्य में आनन्दवर्धन ने अपने काव्यशास्त्रीय योगदान को बड़ी ही विनम्रता से प्रस्तुत करते हैं कि इस आनन्दवर्धन ने पूर्व से ही परिपक्व मति वाले सहृदयों के चित्त में जो सत्काव्यतत्त्व अर्थात् ध्वनितत्त्व सुषुप्तावस्था में विद्यमान था मैंने उसे सहृदयों की प्रसन्नता के लिए उद्घाटित कर दिया है। इस प्रकार ग्रन्थ की पूर्णता होती है।

13.4 शब्दावली

संवाद— कवियों के विचारों की समानता, काव्य की समानता

प्रतिबिम्बवत्— दर्पण में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब के सदृश जब दो कवियों के काव्य में समानता होती है तो उसे प्रतिबिम्बवत्सादृश्य कहते हैं।

ध्वन्यालोकः
(आनन्दवर्धन)
प्रथम एवं चतुर्थ
उद्योत

आलेख्यवत्— चित्र की भाँति जब दो कवियों के काव्य में समानता होती है तो उसे आलेख्यवत्संवाद कहते हैं।

तुल्यदेहिवत्— व्यक्ति के शरीर की भाँति जब काव्य में समानता होती है तो उसे तुल्यदेहिवत्संवाद कहते हैं।

अन्यात्म— किसी दूसरे कवि के काव्य की आत्मा के समान काव्य का होना

तुच्छात्म— आलेख्यवत्संवाद को तुच्छात्म कहते हैं।

प्रसिद्धात्म— तुल्यदेहिवत्संवाद को प्रसिद्धात्म कहते हैं

स्फुरण— मन मस्तिष्क में नये विचार का आना

अनवद्य— दोषरहित, पापरहित

13.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

१. ध्वन्यालोकः आनन्दवर्धनाचार्य विरचित, व्याख्याकार—आचार्य जगन्नाथपाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
२. ध्वन्यालोक व्याख्याकार— आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी
३. ध्वन्यालोक लीला संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित, आचार्य लोकमणि दहाल, भारतीयविद्याप्रकाशन, दिल्ली
४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास पी.वी.काणे, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली
५. ध्वन्यालोक व्याख्याकार के.कृष्णमूर्ति, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली
६. ध्वन्यालोक व्याख्याकार—डॉ. रामसागर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली
७. काव्यशास्त्रविमर्श डॉ. कृष्णकुमार, मयङ्क प्रकाशन, कनखल, हरिद्वार
८. ध्वन्यालोक व्याख्याकार— डॉ. बालप्रिया टीका समन्वित, काशी संस्कृत सीरिज, वाराणसी
९. ध्वनिसिद्धान्त डॉ. राममूर्तिशर्मा, अजन्ता पब्लिकेशन्स, जवाहरनगर, नई दिल्ली
१०. ध्वन्यालोकविमर्श प्रो. माणिकगोविन्द चतुर्वेदी, अक्षरप्रकाशन, विश्वासनगर दिल्ली
११. आनन्दवर्धन लेखक— प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी, मध्यप्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल

13.6 बोध प्रश्न

१. संवाद किसे कहते हैं? उसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसके भेदों की विवेचना करें।
२. किस प्रकार की रचना दोषयुक्त नहीं होती?
३. काव्य रचना करते समय कवि को किस बात का ध्यान रखना चाहिए?
४. काव्य को अनन्तता प्रदान करने के लिए कवि को क्या करना चाहिए?